

आनन्द पथ



लेखक :

नन्दलाल शर्मा

दो शब्द

बुद्धि और मन का संघर्ष चला आ रहा है। कहीं बुद्धि ने विजय पाई और कहीं मन ने। पूर्व (दिशा) का आत्म प्रकाश, पाश्चात्य जगत के भौतिक विज्ञान की क्रीड़ा का अवलोकन कर रहा है। यह भी संघर्ष है विचारों का, सिद्धान्तों का। भारतीय ऋषि-मुनियों ने रचना की वेदों की, शास्त्रों की, जिन्हें ईश्वरोक्त कहा गया। यों तो सभी रचनाएँ प्रभु-प्रेरणा का प्रसाद है, किन्तु कतिपय रचनायें इतनी सत्य, सुन्दर और शिवमय हैं कि उन्हें ईश्वरोक्त कहना ही उचित जान पड़ता है।

आज का विज्ञान सुख का उपासक है और ज्ञान आनन्द अनुभूति का पिपासु। सुख की उपासना ने दुःख की अभिवृद्धि की है। ज्ञान आज अपना भान भूलता-सा दिखलाई पड़ रहा है। यंत्र ने मंत्र-तंत्र को परास्त किया अथच संत्रस्त कर रहा है मानव मात्र को। परिस्थिति संकटापन्न। ऐसी स्थिति में मानसिक शान्ति के लिए अविलम्ब अवलम्ब आवश्यक है। यंत्र के पुजारी मानसिक शान्ति के मंत्र को क्यों महत्त्व देने लगे? किन्तु उपेक्षा कब शान्तिदायिनी हुई?

स्थूल जगत के कार्य स्थूल एवं सूक्ष्म भावनाओं को जन्म देते हैं। यह क्रम भी चला आ रहा है। मनुष्य की कामना सहस्त्रमुखी हो रही है। भोग, रोग में मनुष्य व्यस्त और संत्रस्त हो रहा है। शान्ति का दर्शन दुर्लभ। प्राचीन विचारों की परम्परा से भी मनुष्य उन्मुक्त न हो पाया। परिणाम सम्मुख है। आज भी धार्मिक जगत् के सिद्ध साधक कामिनी कांचन की निन्दा करते नहीं अघाते। किन्तु आज भी समस्या का समाधान न हो सका।

प्रस्तुत पुस्तिका में छः विकारों का दिग्दर्शन है - कथोपकथन रूप में। केवल कल्पना का आधार नहीं, नीर-क्षीर-विवेकी सदपुरुषों के सम्मुख

कुछ बातें रखी गई हैं। विचारक तथ्यांश को हृदयंगम कर सकें तथा इस पुस्तिका से कुछ भी समाधान की और अग्रसर हो सकें, तो प्रयास केवल प्रयास ही न रहेगा, सिद्ध साधकों के लिए नवीन पथ के अनुसन्धान का कारण बन सकेगा।

कटु-आलोचना तथा वाक्-वितण्डावाद ने मर्म को मर्म न रहने दिया। फलतः अनेक वाद - पांडित्य तथा तर्क के आधार पर उपस्थित किये गए। श्रद्धालु ज्ञानी भक्त आज भी ऐसे सरल सहज-मार्ग के इच्छुक हैं, जहाँ भावों को विकारों की उपाधि न दे, यथार्थ रूप से उनकी सदुपयोगिता हो सके।

विश्वास को अन्ध विश्वास कहना कहाँ तक उचित है? श्रद्धा एवं विश्वास को आधार रूप मान, मानव चला आ रहा है, किन्तु आज भी उसे पूर्ण शांति नहीं। कामिनी कांचन उसके लिए “दुर्लभ घाटी” के रूप में उपस्थित हैं। विज्ञ-जन निर्भय हो, तथ्य को अपनायें तथा इन विचारों की सार्थकता को समझें तो सम्भव है नवीन मार्ग का दर्शन हो।

यों तो यह विश्व अनेक आश्चर्य तथा विपरीत धारणाओं का क्षेत्र है फिर भी तत्त्व अन्वेषक समाधान का प्रयास करते ही रहेंगे। सृष्टिकर्ता की विशेष अनुकम्पा ही प्राणी को शान्ति प्रदान करेगी। व्यक्ति तो व्यक्त ही करता आ रहा है अपने अनुभव, समष्टि के लिए यदि उपयोगी हो सकेंगे ये अनुभव तो सम्भव है व्यक्ति एवं समष्टि को शान्ति प्राप्त हो।

पुस्तिका के प्रारम्भ में दो शब्द लिखे गए। विज्ञ ज्ञानी भक्तों को यदि ये विचार रुचिकर प्रतीत हुए तो अन्य बातें भविष्य में उपस्थित की जा सकेंगी। शांति, सत्य, संत को नमस्कार।

- नन्दलाल शर्मा

आनन्द पथ

जीवन के सुनहले प्रभात में ऋषि चिन्तन कर रहा था “स्व” का “पर” का। “स्व” कौन “पर” कौन? “स्व” अदृश्य था “पर” समक्ष था। सोचता था “पर” कब “स्व” होगा एवं “स्व” से कब पूर्ण परिचय होगा?

अग्नि जली हवन की, विचारों की, क्योंकि वह स्थूल और सूक्ष्म दोनों में ही “स्व” की अनुभूति की अनुकण्ठा लिये बिठा था। ऋषि शान्त, प्रकृति शान्त। ऐसी शान्त अवस्था में ऋषि ने अवलोकन किया मानस नेत्रों से अपूर्व भाव। ऋषि अन्य को “स्व” समझ बार-बार ध्यान धारणा का प्रयोग कर रहा था, प्रकृति उसे अपनी यानी ऋषि की ओर संकेत कर रही थी। ऋषि संकेत को समझ कर भी समझ नहीं पा रहा था। “मैं” ही वह “स्व” हूँ अर्थात् मैं ही वह ध्येय हूँ, जिसका ध्यान कर रहा हूँ, विश्वास न हो पाता था।

युग बीते, काल-चक्र ने करवट बदली, आज भी ऋषि चिन्तन में मग्न था। “स्व” को पहचानूँ, आनन्द में गोता लगाऊँ; इसी का प्रयत्न हो रहा था, आंशिक सफलता के दर्शन हुए जब उसने अन्य हिंसक प्राणियों में गति देखी वृत्तियों की। कहलाते थे पशु, किन्तु अपने बच्चों को प्यार देकर प्रसन्न होते थे। ऋषि ने देखा ममत्व और आहार निद्रा भय मैथुन का समान भाव; जिसे उसने मनुष्यों में देखा था। सोचने लगा क्या मनुष्य भी एक प्रकार का पशु है? बुद्धि ने उत्तर दिया - है तो, कुछ अन्तर है। अन्तर है अन्तःकरण का। ऋषि का प्रश्न था - सभी क्रियायें एक सी हैं, फिर अन्तर कहाँ? बुद्धि कहने लगी - ये प्रकृति के पुतले प्रकृति तक ही खेलते रहते हैं, पुरुष का साक्षात्कार कर नहीं पाते। मनुष्य स्वतन्त्र और परतन्त्र दोनों ही है। “स्व” के तन्त्र को जाने तो स्वतन्त्र अन्यथा पशुवत् व्यवहार करता परतन्त्र भावनाओं से ही आवेष्टित रहता है। ऋषि मनुष्य को पशु मानने के लिए तैयार न था।

प्राण एक है, आत्मा एक है यह तो बुद्धि बल पर शायद स्वीकार कर लेता, किन्तु मनुष्य पशु एक हैं, इसे वह कैसे स्वीकार करता ?

चिन्तन की गति तीव्र हो गई। स्थूल से सूक्ष्म की ओर चला। सूर्य की किरणों की तरह उसे प्रत्येक प्राणी प्रतीत हुआ। अति प्रसन्न था उसका मानस लोक। बुद्धि का स्थान अब मन ने ग्रहण किया। मनन होने लगा। प्रथम चिंतन था अब मनन चिन्तन का कार्य होने लगा। किरणें ही प्राणी हैं। किरणें मनुष्य में भी, पशु में भी। पशु और मनुष्य एक; एक की सन्तान, एक की अनेक क्रियायें। रूप की क्रीड़ा थी स्थूल जगत में। किरणों के अभिनय ने नाट्यशाला में विभिन्न-विभिन्न अभिनेताओं का सृष्टि की। शब्द हुआ - ऋषि तुम सब एक। एक सूत्र, सूत्र में रंग-बिरंगे पुष्प। देख और समझ, सूत्र तेरा जीवत्व भाव और ये फूल तो प्राणी हैं, जिन्हें तू पशु-पक्षी के रूप में देखता है। ऋषि की अवस्था अपूर्व थी। आकाश, हृद् आकाश के ये शब्द झंकार थी हृत्तन्त्री की। आश्चर्य - एक मुहूर्त पूर्व जिसे मन न मानता था, उसी को अपनाया मन ने। शब्दों की शक्ति अद्भुत होती है यह सुना था उसने। आज हृद् आकाश के प्रत्येक शब्द गुंजरित हो रहे थे, मुखरित हो रहे थे। प्राणी सब एक, किरणों का खेल, जगत् नाट्यशाला, प्राणी अभिनेता, वाह तब तो “सर्वम् नाट्यमयम् जगत्”। वाह रे अनोखे अभिनय।

शान्त चित्त से आह्वान किया हिंसक पशुओं का। पशु पशुत्व भाव भूल बैठे, समीप आये, अति निकट आये। आज ऋषि ने उन्हें देखा प्रेम की दृष्टि से। उसे प्रतीत हुआ मानों भूला हुआ बन्धुत्व भाव पुनः जागृत हो उठा। प्यार का अपूर्व सम्मेलन - पशु कौन, मनुष्य कौन ? सभी किरणें सभी पुष्प। तो क्या भ्रम था पूर्व अवस्था में ? मनुष्य पशु सब एक, एक की स्निग्ध किरणें। वाह रे चमत्कार। ऋषि प्रेम विभोर, मूक, शान्त। किस भाषा में उनसे आलाप करता ? भाषा की आवश्यकता तो भाव की अभिव्यक्ति के लिये न

होती? भाव का प्रभाव ऋषि प्रत्यक्ष देख रहा था। यह कौन -सी दुनिया है, जिसमें प्रेम समुद्र तरंगित हो रहा था। अवश्य ही ऐसी अवस्था विशेष थी, जिसमें भिन्न-भिन्न दिखाई देने वाले अभिन्न हृदय से मिल रहे थे पारस्परिक संकुचित भाव विलीन हो रहे थे और तल्लीन हो रहे थे, सृष्टि के दो जीव जो अपने पशु और मनुष्य समझ, अब तक दो दुनिया बसाये बैठे थे। यह खेल भी आज मेल में परिवर्तित हो रहा था। कैसा अनुपम मिलन था। युगों का चिन्तन साकार हो रहा था। पशु ऋषि को पाकर पशुत्व - भाव भूल बैठे। प्राणों में उद्विग्नता न थी। हिंसक वृत्ति शान्त। यह ऋषि का चमत्कार था या सृष्टिकर्ता की असीम कृपा, कहना कठिन था। प्राणों की साधना ने प्राणी जगत् में अद्भुत अवस्था प्रकट की थी।

प्राणी का प्रेम अनोखे कार्य कर दिखलाता है, यह स्पष्ट हुआ। वायु में रहने वाला प्राणी स्थूल में सूक्ष्म, एक कर आनन्दित हो सकता है, इसे वह देख रहा था स्थूल चक्षुओं से, मानस चक्षुओं से। फिर यह निरर्थक हलचल क्यों, अशान्ति क्यों, व्याकुलता क्यों, चिन्ता क्यों? ऐसे ही अनेक विचार ऋषि के सम्मुख उपस्थित हो रहे थे।

हलचल स्थूल में है, सूक्ष्म में है, कल्पना में है, भावना में है, भगवान में। यही हलचल प्राणी को जीवन प्रदान करती, सुख पहुँचाती, दुःख पहुँचाती, प्रभु से मिलाती, सृष्टि के खेल दिखाती। हलचल केवल यदि हलचल ही उत्पन्न करती है तो शरीर थककर चूर हो जाता है, किन्तु जब यह गति में स्थिति का अवलोकन कराती है तो हलचल शान्ति में परिवर्तित होती है। ऋषि ऐसे ही विचारों के खेल देख चकित हो रहा था।

पशु में भी हलचल और मनुष्य में भी। यह तो वीणा की वह झंकार है, जिसके अभाव में वीणा की उपयोगिता ही निरर्थक होती। झंकार में भी प्रिय झंकार ही प्राणी को प्रिय है।

लय में लय होता रहता है स्वर, फिर भी प्राणी समझ नहीं पाता यही क्या कम आश्चर्य है ? ऋषि ने पशु-जगत में समता प्राप्त की।

आँखें उठीं ऊपर की ओर नीला आकाश, नीचे की ओर हरीभरी भूमि। भूमि की शोभा वर्धित कर रही थीं द्रूम लताएँ। प्रकृति रंग-बिरंगे पुष्पों में भूली हुई इठला रही थी। ऋषि इन जड़ पदार्थों में भी चेतन का रूप देखना चाहता था। पुष्पों का प्रस्फुटितकर्त्ता कौन ? अदृश्य रहकर दृश्य जगत में हलचल करने वाले का वह दर्शनाभिलाषी था। रसमय जगत को सर्वदा रसपूर्ण रखनेवाला समक्ष आये यह उसकी कामना थी।

जड़ स्वयं अपनी कहानी कैसे कहता ? ऋषि पुनः विचारमग्न। चेतन शक्ति ने प्रवेश किया जड़ की चेतन शक्ति में। शक्ति एक ही थी जो जड़ चेतन में समान रूप से विद्यमान थी। हर्ष अपार था, जब एक ही रस, एक ही प्राण, एक ही गति ऋषि ने जड़ में भी देखी। भ्रम की निवृत्ति हुई। प्रेम की प्रवृत्ति जग पड़ी। जड़ में भी वही, चेतन में भी वही। वाह रे खेल - जहाँ पद-पद पर भ्रम प्रधान था। जड़ की जड़ में चेतन। चेतन की जड़ में, जड़ चेतन को गतिशील बनानेवाला चेतन, शांत था।

चिन्ता हो जगत को, क्योंकि वह जड़-चेतन की ग्रंथि को खोलना चाहता है बुद्धि बल पर। बुद्धि सहायक हो सकती है मन की, किन्तु मन करता वही है, जो रात्रि-दिवस संकल्प-विकल्प करता है। ऋषि तत्त्व-दर्शनाभिलाषी था अतः जड़ चेतन का पृथकत्व उसके समक्ष न रहा।

फूल भी मानव-प्रकृति को आकृष्ट करता है, तभी तो मनुष्य खिले हुए फूल को देखकर खिल उठता है। प्रकृति मिली, मन मिला। अब ? अब सब मिले। प्रकृति मिली, पुष्प मिले, पशु मिले, पुरुष मिले, सब मिले, सन्तोष मिला।

ऋषि का कोमल हृदय प्रकृति की मधुरिमा को देख मुग्ध हो सुध-बुध भूल बैठा। जगत ही बदल चुका था। अन्तर की दृष्टि अब नैसर्ग का खेल देख प्रफुल्लित हो रही थी। युगों की साधना सफल। आज साधना, साधक, साध्य, साध्य में ही लीन थे। बुद्धि, अहंकार अब निर्णय, अहमत्व, भूल बैठे।

दिवस पर दिवस बीते, प्रभात बेला में कमनीय रूप लिये काम आया। ऋषि ने देखा यह वही काम था जो पूर्व अवस्था में हृदय में प्रवेश कर ऐसी अवस्था की सृष्टि करता कि ऋषि कर्त्तव्य भूल बैठता। व्याकुलता सहगामिनी होती उसकी (काम की)। किन्तु आज वह शांत था। ऋषि प्रमुदित हो कहने लगा - भाई काम तुम तो ऋषि-मुनियों को भी पथभ्रष्ट करते आये, तुम्हारे कार्य ही ऐसे हैं। काम ने कहा - मुझे अपवित्रता देखना अन्याय है। ऋषि तुम चिन्तनशील व्यक्ति हो, निष्पक्ष विवेचन करो। यदि व्यक्ति मानसिक दुर्बलतावश विवेकशून्य कार्य करे तो मुझे दोषी ठहराया जाय, क्या यह उचित है? विचारों का दुरुपयोग, विचारों का दोष नहीं, व्यक्ति पश्चाताप करेगा ही? कामना न होती, मैं न होता तो इस विश्व के दर्शन दुर्लभ हो जाते। “मैं एक अनेक के रूप में हो जाऊँ” यह भी तो कामना ही थी। मैंने किसी को विचलित नहीं किया कर्त्तव्य से, धर्म से। व्यक्ति ने अब तक मुझे न समझ केवल मेरी निन्दा ही की। ऋषि, विचार करो, मेरा कलंक विमोचन तुम्हीं कर सकोगे।

ऋषि शान्तिपूर्वक काम के कथन को श्रवण कर रहा था। विचार करने लगा। उसे उसकी बातों में तथ्य की झलक दिखलाई दी। काम अब कुछ उत्साहित हो कहने लगा - विश्व के देव घबड़ाये, धर्म प्रवर्तक बेचैन हुए, अन्य साधारण जनों की अवस्था का वर्णन मैं क्या करूँ? साधु-संन्यासियों ने भी यथेष्ट मेरा अपमान किया। दोष किसका? मेरा या उनका। मुझे भोग का पर्यायवाची समझा गया। मुझे खोजा गया कामिनी में,

कांचन में। यह तो उनकी समझ थी। अब तुम्हीं बतलाओ, यों मुझे भला-बुरा कहने से संसार के लोगों ने क्या पाया ?

ऋषि निरुत्तर-सा था कुछ क्षणों के लिए। विवेचन कर ऋषि ने कहा - समयानुकूल कुछ धारणायें की जाती हैं। कुछ भाव जो कार्य सिद्धि में विरोधक होते हैं, उनमें तुम्हारा नाम सर्वप्रथम आता है। मानव भूल बैठते हैं कर्त्तव्य को जब तुम्हारा आगमन होता है। मनुष्य विवेक शून्य-सा हो जाता है, जब तुम्हारी कृपा होती है। तुम्हीं बताओ क्या तुम उनकी बुद्धि हरण नहीं करते? तुम उनमें ऐसी तल्लीनता का भाव देते हो कि क्षण भर के लिए वे अन्धे-से हो जाते हैं। कर्त्तव्य विमुखता का कारण तुम हो। अनेक जन्म धारण करने पड़ते हैं, तुम्हारी तृप्ति के लिये फिर भी वह नहीं हो पाती। इसलिए कह बैठते हैं - “न जातु काम कामानाम”। तुम्हीं उनके प्रिय होते हुए भी अश्रेयस्कर कार्य करवाते हो। तुम दोष-रहित कैसे ?

काम ने कहा - ऋषि, क्या तुम भी मुझे ही दोषी ठहराते हो ? तथ्य को न जान, अन्य पर दोषारोपण करना तो मानव प्रकृति-सी हो गई है। ये साधारण जन तो मुझे ही नहीं, सृष्टिकर्त्ता को भी न जाने कितने अपशब्द कहते देखे जाते हैं। सृष्टि की रचना क्या मेरे ही लिये की गई है ? कदापि नहीं, अन्य भाव जिनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं ये, उनसे कब लाभ उठाते हैं ये ? श्रवण कर उनकी महिमा ये, पुण्य के भागी बन बैठते हैं। कल्याण कब हुआ उनका ? किन्तु मैं क्यों व्यर्थ चर्चा करूँ ? मुझे तो अपनी ही बातें कहनी हैं। ऋषि ने कहा - मैं तर्क के द्वारा खण्डन-मण्डन करने का पक्षपाती नहीं। काम से भी काम है, विश्राम भी आवश्यक है। एक प्रश्न करूँ तुमसे - प्राचीन एवं अर्वाचीन काल के संत साधकों ने, ऋषि-मुनियों ने तुम्हें अवांछनीय क्यों समझा ? काम का उत्तर था - कुछ कारण थे जिन्हें ये जन साधारण के सम्मुख आदर्श के रूप में नहीं रखना चाहते थे। अपनी दुर्बलताओं पर

आवरण डाल, मुझे भला बुरा कहने लगे। मुझ पर विजय पाने के लिए उन्होंने घोर तप किये, किन्तु सिद्धि न पा सके। कारण पूछना चाहते हो तो स्पष्ट कह दूँ - विजयी हो सकते थे वे, यदि वे मुझे न ललकारते। जीवन की पूर्णता में मेरा भी सक्रिय योग आवश्यक है इसे मानते। किन्तु ऐसा हुआ कहाँ? सृष्टि में विष भी आवश्यक है और अमृत भी। अतृप्त वासना का निराकरण धुनि रमा कर, जटा बढ़ा कर, केश मुंडन करवा कर, शारीरिक निरर्थक क्लेश उठाकर, क्या कभी कोई कर सकता है या भविष्य में आशा है? विचार विनिमय के द्वारा ही कार्य होते आये और होते रहेंगे। साधु ने गृह परित्याग तो किया किन्तु घट में बैठे संस्कार तो उसके साथ ही रहे। घट को अनेक कष्ट देकर भी वह मुक्त न हो सका मानसिक दुर्बलताओं से। मैं कब बुरा, बुरा तो मेरा प्रयोग यदि उचित रीति से न किया गया तो दोषी मैं नहीं दोषी मनुष्य की भावना।

ऋषि ने गंभीर स्वर में कहा - यों वाचालता से कार्य सिद्ध नहीं होता, जिन्हें तुम मानसिक दुर्बलता कहते हो, अतृप्त वासना कहते हो वे भी तुम्हारी ही कृपा से मानव समाज के घट में वास कर गईं। तुम से मुक्त होने का सरल मार्ग बतलाओ। काम ने कहा - ऋषि तुम भी भ्रमित हो गए, आश्चर्य। मेरी आवश्यकता न होती तो मेरी उत्पत्ति ही क्यों होती? शांत वातावरण में स्थिर हो विवेचन करो। प्रतिपल कामना, मानव को कर्तव्यशील बनाती, अग्रसर करती जीवन लक्ष्य की ओर, वह भी तो मेरा ही रूप है। ऋषि तुम्हारे सरल हृदय में भी कामना थी कि तुम प्रकृति का रहस्य उद्घाटन कर तत्त्व, विवेचना करो। कामना ने तुम्हें उत्साहित किया और तुम जन कल्याण के लिए एकान्त सेवन कर चिन्तन में लीन हुए। कुछ सांसारिक तुम्हें अकर्मण्य, पलायनवादी आदि शब्द कह तुम्हारा अपमान करने लगे। क्या तुमने ध्यान दिया उन अनर्गल प्रलाप करने वालों पर; मैंने यह मार्ग प्रारम्भ में ही अपनाया। अपशब्द भी तो शब्द हैं क्षोभकारी किन्तु कार्यकारी

इन पर कब ध्यान देने लगे ? ऋषि मेरे रहस्य को समझो, संसार के उत्पादन वृद्धि, पालन, संहार का मैं भी एक कारण हूँ।

ऋषि ने काम की बातें सुनीं, तर्क सुना, उत्तर भी दिया, विवेचन भी किया किन्तु निर्णय न कर सका। कहा काम से - मुझे विवेचन करने का समय दो। प्राचीन परम्पराओं को मैं यों ही अमान्य नहीं करना चाहता। कुछ क्षण के लिए तुम प्रस्थान करो। काम क्या करता, विवश हो लौट पड़ा मलिन मुख लिये।

ऋषि का हृदय दया से प्लावित हो गया। वह सोचने लगा - सृष्टि कुछ ऐसी ही है, जिसकी सभी बातें सरलता से समझी नहीं जा सकतीं। कैसा आश्चर्य है, यहाँ सभी कार्य रहस्य भरे। बुद्धि-बल के द्वारा ये समझे ही नहीं जा सकते। मैं भी अब शान्त हो मानसिक विचारों से कुछ समय के लिए अवकाश लूँ।

दिवस बीता, रजनी आई। प्रभात की बातें ऋषि के चिन्तन का विषय बनीं। काम सार्थक था, निरर्थक भी। काम और कामना। काम का रूढ़ि प्रयोग क्यों किया जाय ? अनेक जन्मों के संस्कारों ने अनेक रूप धारण किये। पृष्ठभूमि में काम प्रधान, शायद इसीलिये काम की निन्दा। ऋषि विवेचन करने लगा। काम आया यह भी तो साधारण जन क्या विशिष्ट व्यक्ति भी समझ नहीं पाते, फलतः शिकार बन जाते हैं काम के। उत्तेजना ही मानों इन इन्द्रियों का काम है। आये और जाये अतिथी के रूप में काम; दानव के रूप में नहीं, मानव के रूप में। मन विजयी होगा; उसे अनुभव होगा कि काम आया और गया। ऐसे ही अनेक विचार ऋषि के सम्मुख उपस्थित हुए। तो क्या काम शत्रु नहीं ? शत्रु या मित्र कैसे कहा जाय, प्रयोग ही प्रधान है। साधु-सन्तों ने इस दृष्टि से सम्भवतः पूर्व काल में काम को न देखा हो। यह भी सम्भव है कि काम-क्रोध को बुरा कहना ही संसार के लिए भला हो।

ऋषि का मानस पटल पुनः स्वच्छ था, ऋषि स्तुति-निन्दा के लिये नहीं आया था भव में, उसे तो चिन्तन और अनुभव के आधार पर चित्तवृत्तियों को शान्त करना था। निरोध और विरोध उसका मार्ग न था। किससे घृणा करे और किससे प्रीति? वह तो रीति देख रहा था भव की, जिसे अन्य लोगों ने “धोखे की टट्टी” कह कर ख्याति प्राप्त की थी? सरल-सरस भावना ने भव को भावमय बनाया था, किन्तु न जाने क्यों अन्य विवेकी इस भव को बुरा कहने लगे, बुरा कहने वालों की संख्या आज भी अत्याधिक है, जब कि शान्त होकर विवेक तथा प्रेमपूर्ण भावों से वस्तुस्थिति को समझनेवालों की संख्या अति अल्प, साधु-सन्तों ने भव को बुरा कहा, काम को बुरा कहा। बुरा और बुराई के गीत गानेवालों ने वहीं तक शान्ति न ली, भगवान को भी बुरा कहनेवाले आये तथा उन साधु-सन्तों की भी निन्दा से रक्षा न हो सकी। वाह रे खेल, भव बुरा, काम बुरा, साधु-सन्त बुरे, तू बुरा किन्तु मैं? नहीं जी मैं तो बुरा कहनेवाला हूँ, मैं कैसे बुरा? ऋषि हँस रहा था - कहता था वाह रे बुरा और बुराई का खेल। बुराई की बुराई, भलाई की भलाई किसमें? भावना में। भावना शान्त तो सब भला। यदि भावना अशान्त तो फिर भलाई-बुराई को जानना पहिचानना भी कठिन है।

अनेक साधु-सन्त शान्त रह, प्रकृति का खेल देखते, प्रिय के गुणगान गाते आये और निश्चित समय पर मुक्त हुए भावना से। भव के लोगों ने उनको श्रद्धा से देखा। श्रद्धा ने उन्हें (विषयी मनुष्यों को) तत्त्व विवेचन में सहायता न दी। अतः अन्य लोगों ने श्रद्धा को भी अन्ध श्रद्धा कह कर अपमान किया मनुष्य की श्रद्धा का। ये तो भावना के खेल हैं, इनमें भलाई-बुराई खोजता-खोजता मनुष्य आज भी खोज में ही लगा हुआ है। काम बुरा, काम भला कथनमात्र मनुष्य को कब शान्त कर सका? काम बुरा इस अर्थ में है कि जब मनुष्य लक्ष्य को भूल काम को ही राम, आराम समझ बैठे। यदि मनुष्य श्रद्धा को भी भला-बुरा कहता आया तो काम की निन्दा-स्तुति का

प्रश्न ही नहीं उठता। जिस श्रद्धा के सहारे अपने प्रिय रूप की प्राप्ति करता है, अज्ञात सहायता से, वह भी बुरी कही जाय फिर संसार में भले बुरे की परिभाषा करना अति दुष्कर। ऋषि ने देखा अच्छा खेल प्रारम्भ हुआ, जहाँ यह बुरा-भला तत्त्व की दृष्टि से कहना सरल कार्य नहीं।

पुनः शान्त चित्त से ऋषि अवलोकन में लगा सृष्टि के अन्य कार्यों की ओर। काम का शत्रु क्रोध उसे आता हुआ दिखलाई पड़ा। रक्त वर्ण मुख का, आँखों से ज्वाला सी निकल रही थी शरीर कम्पायमान। गति विधि भयंकर। शान्त, सन्तोषी, चिन्तनशील ऋषि ने सोचा यह कैसी विपदा आई? इसका आगमन ही मन को आग, अग्नि की तरह जलाने के प्रयत्न में है।

ऋषि ने धैर्य से काम लिया। क्रोध की बुरी अवस्था, वह धैर्यवान ऋषि को देख, गरज उठा कहने लगा - अरे पाखण्डी, मेरी उपस्थिति में भी तू मेरा सम्मान नहीं करता? क्रोधित नहीं होता? मैंने तुझ जैसे अनेक की बुरी अवस्था की है। ऋषि ने कहा - यहाँ तू असफल रहेगा। कुछ समय पूर्व काम आया था, उसने भी मधुर अलाप के साथ विदाई ली फिर तुझ जैसे से भयभीत होने का कोई कारण नहीं। वह (काम) प्रिय का भाव दिखलाकर भी प्रिय अप्रिय न बन सका फिर भला तू क्यों गरज रहा है? “क्रोध पाप का मूल” यह बात मैंने अनेक बार सुनी थी, आज प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। तुमने संसार का क्या भला किया जो इस प्रकार अभिमान के साथ अपने दुर्गुणों को सदगुणों का सा रूप देता हुआ, आज भी जगत में स्थिर है। काम को भस्म करने की कथा भी सुनी गई, किन्तु काम के स्थान में क्रोध को ही भस्म करना अधिक उचित होता। जल, तू स्वयं जल, भस्मीभूत हो जा मैं तुझसे भयभीत होने वाला नहीं।

क्रोध अब अधिक वक्रता न रख सका बोला - भाई तू ही विजयी है, मैंने तो अनेक ऋषि मुनियों को आज भी अपना शिष्य बना रखा है। कुछ लोग

तो यहाँ तक कहते सुने गये कि मेरे अभाव में ऋषि मुनियों की भी गति नहीं। वे भी मेरी सहायता लेकर सांसारिक लोगों से प्राण बचाते हैं, किन्तु तुम तो शांत ही रहे यह विद्या तुमने किससे सीखी? ऋषि मुस्कराने लगा। कथन प्रारम्भ हुआ। ऋषि ने कहा - काम का ही तू विकृत रूप है जहाँ काम कमनीय रूप से कार्य करने में सफल नहीं होता वहाँ तू आया और तूने अपना कला कौशल भयंकर होकर प्रकट किया। तेरी आवश्यकता को मैं अस्वीकार नहीं करता किन्तु मैं तुझे भला कैसे कहूँ? शरीर के प्रत्येक रोम कूप को तू अग्नि शिखा का द्वार-सा बना देता है, हित अहित का ज्ञान भी नहीं रह पाता। अब तू ही बता तेरी प्रशंसा करूँ या निन्दा? निन्दा तो तेरी जगत के श्रेष्ठ व्यक्तियों ने की है यदि मैं भी करूँ तो अनुचित नहीं, किन्तु मैं उस नीति को प्रधानता नहीं देता। सृष्टिकर्ता ने तेरी सृष्टि भी किसी विशेष अर्थ से की है। अवतारी तुझे भूल न पाये, बल्कि तेरा प्रयोग कर ही वे अवतारी कहलाये; किन्तु इससे तेरी सार्थकता की वृद्धि हुई यह कैसे मानूँ? यदि काम ने जगत को अन्धा बनाया तो तू ने कहाँ उसे प्रकाशमय बनाया? अन्धे होकर ही तुझे लोग अपनाते हैं।

क्रोध निरुत्तर-सा हो गया, लज्जित हो कहने लगा - ऋषि! मैंने अनेक ऋषि-मुनि देखे, किन्तु तुम्हारा तो ढंग ही निराला है। तुम्हारी दृष्टि में कोई भी भाव निरर्थक नहीं। प्रत्येक भाव के तुम दोनों रूप देखते हो। अब तक तो महापुरुष भी मुझे अपशब्द से ही सम्बोधित करते आये तुम कौन हो, जो मेरी भी आवश्यकता समझते हो? धन्य हो तुम!

ऋषि की मधुर मुस्कान अधरों की शोभा बढ़ा रही थी। कहने लगे - ये चाटुकारी के शब्द मेरे लिए व्यर्थ हैं। प्रशंसा निन्दा तो व्यक्ति करता ही आया यदि तू भी करे तो कर। तू शान्त कैसे होता जा रहा है? तेरी वह उग्रता लुप्त क्यों हो रही है? क्रोध कृतज्ञता भरे शब्दों में बोला - प्रभो! यह

तो आपका चमत्कार ही है। आपकी सहानुभूति ने मुझे शान्त कर दिया। ऐसा हृदय आपने पाया कहाँ से, जिसमें मुझ जैसे जघन्य के लिये भी स्थान है। ऋषि मैं किन शब्दों में तुम्हारी प्रशंसा करूँ? मेरा अभिमान मुझे धिक्कार रहा है। मेरा दर्प आज दलित हो रहा है। सहृदयता ने, आपकी सहृदयता ने मुझे नतमस्तक कर दिया। भगवन् आपको कोटि-कोटि नमस्कार।

ऋषि ने प्रेम-भरे शब्दों में कहा - क्रोध! इस जगत् में भाव वस्तु निरर्थक नहीं, मानव उनका उपयोग भूल बैठा, यही उसके लिए घातक सिद्ध हुआ। काम और क्रोध पर विजय पाने की उत्कट अभिलाषा आज भी श्रेष्ठ व्यक्ति करते हैं, किन्तु ये दोनों ही भाव आज भी अजेय हैं। किसने काम पर विजय पाई? जिसने उसका कारण समझा? जहाँ छोटी-सी भूल मनुष्य को अनेक अपशब्द सुना देती है, वहाँ बड़ी भूल का पश्चाताप लिये ही मानव विदा हो जाता है। भूल बनी रही, निराकरण का यथार्थ मार्ग न अपनाया। अब तू ही बता, किसी को भला-बुरा कहने से तो वह भाव दूर नहीं हो जाता। भाव को समझो, अभाव को समझो, अपशब्द कहाँ तक सहायक होंगे? यहाँ विजय पाना कहाँ? शान्त होकर सृष्टि-चक्र की गतिविधि देखना है। विजय पाने का भाव भी अहंकार उत्पन्न करता है। विजय-पराजय के भाव ने ही तो मानव को आकुल-व्याकुल कर रखा है। धन उपार्जन चातुरी, विद्या अर्जन बुद्धि की तीव्रता, जहाँ समझा जाता है, वहाँ शान्ति कहाँ? अकर्मण्य न बनो, पुरुषार्थ के बल पर विजयी बनो आदि वाक्य सांसारिक कार्यों के लिये उचित से जान पड़ते हैं, किन्तु क्रोध! यदि तुम्हारी कृपा इन अबोध प्राणियों पर बनी रही, तो क्या ये शान्तिपूर्वक रह सकेंगे? काम तो इनका मुख्य लक्ष्य है, उसी की प्राप्ति के लिए “तेली का बैल” बन सतत् कार्यों में संलग्न रहते हैं, फिर इन्हें शान्ति कहाँ? तुम्हें शान्ति की महिमा अच्छी नहीं लगती, क्यों है न यह सत्य? अच्छा भाई, तुम भी अपने गन्तव्य पथ की ओर प्रस्थान करो। मुझे तो शान्ति को ही अपनाना है, वही मेरी चिर-संगिनी है। काम-क्रोध तो

यदाकदा दिखलाई देते तथा चले जाते हैं। शान्ति मुझे पाकर शान्त और मैं शान्ति को पाकर तुम सब की लीला देख पाता हूँ, अन्यथा बड़े-बड़े बह गये। अभिमान से नहीं, शान्ति से ही कुछ खेल स्पष्ट दिखलाई देते हैं। क्रोध शान्त हो विदा हुआ।

ऋषि पुनः चिन्तन में लगा। ऋषि हँस रहा था। कहता किसी से क्या? शान्त ही रहता और विचारों का द्वन्द्व भी शान्ति से ही देखता। काम क्रोध तो विदा हुए। लोभ ने विचार किया, ये दोनों तो अति प्रशंसित अति निन्दित होते आये। मेरी चर्चा ही चर्चा की जाती है, मुझे लोग उतना अहितकर नहीं मानते, मैं भी चलूँ, देखूँ ऋषि मेरा मान करता है या अपमान? अति संकुचित भाव लिये, दीन-हीन-सा भाव लिये, लोभ ऋषि के सम्मुख उपस्थित हुआ। ऋषि ने देखा, लोभ आ रहा है, न कमनीय रूप है न उग्र। भला, यह भी कैसा भाव है? प्रसन्न वदन ऋषि ने कहा - आओ भाई, तुम भी अपनी कथा प्रारम्भ करो।

लोभ ने अति नम्र शब्दों में कहा - महाराज! मेरा उपासक संग्रह करता है अर्थ। वह धन की अभ्यर्थना करनेवाला होता है। अपशब्द सुनकर भी संचय करता ही रहेगा जीवन की अन्तिम घड़ियों तक। अन्य के लिये वह चाहे उपयोगी सिद्ध न हो, किन्तु अपने लिये प्रत्येक अवस्था में वह तुच्छातितुच्छ वस्तु की प्राप्ति के लिये संलग्न रहता है कार्य सिद्धि के लिये। पैसा ही उसका माता-पिता है। “चमड़ी जाये पर दमड़ी ने जाये” यह उसका मूल मन्त्र रहता है। भविष्य की चिन्ता से मुक्त होने के लिए, दाम के लिये वह आराम भुला देता है, “राम से क्या काम, चाहिये दाम केवल दाम”, उसी का अर्जन ही उसका अर्चन है।

ऋषि ने कहा - क्यों व्यर्थ गाल बजाते हो, तुम जैसों ने ही संसार को नरक बना रखा है। तन को समुचित वस्त्र नहीं, पेट को अन्न नहीं। भला

यह भी कोई गुण है? तुमने मानव को अर्थपशु बनाया। उस धन का संग्रह किस काम आया? जब मनुष्य कर्तव्य विमुख हो प्रति मुहूर्त अर्थ संचय का ही दास बना रहे। तुम तो काम, क्रोध से भी भयंकर हो। मीठे ढंग से तुम्हारे काम होते हैं, तुम वह यक्ष्मा हो, जो मनुष्य की अन्तरात्मा का क्षय करता रहता है। नीति का मुल्य नहीं, धर्म का अनुराग नहीं, विश्राम से पहिचान नहीं, केवल एक धुन “हाय पैसा, हाय पैसा।” कभी विचार भी किया कि धन तो साधन है, साध्य नहीं। अति संचय ने यह भी भुला दिया कि किसके लिये यह अति परिश्रम हो रहा है? तुम्हारे उपासकों की संख्या अधिक नहीं, यही अच्छा है, अन्यथा मनुष्य का जीवन दूभर हो जाता। आराम क्या है, कभी सोचा? तन का विश्राम ही आराम नहीं, मन का शान्त होना तन के आराम से अधिक महत्त्व रखता है। तुम्हारा पुजारी तन-मन की ओर कब ध्यान देता है, उसे तो दाम चाहिये आराम से क्या काम? भविष्य की चिन्ता ही तुम्हारी सहायिका है। उसी के बल पर तुम मनुष्य को भ्रमित और भयभीत करते हो। सार्थकता तुम्हारी कुछ अंश में हो सकती है, किन्तु तुमने जो यश-गान गाये उसके तुम अधिकारी नहीं। आराम नहीं, राम नहीं - केवल दाम यह भी कोई जीवन है?

लोभ ने कहा - ऋषि तुम भी लोभी हो। क्यों एकान्त का सेवन कर, मन प्रसन्न करने के लिये, जीवन व्यतीत कर रहे हो। यदि मेरे उपासक अधिक नहीं, तो तुम जैसे प्रेम लोभी भी अति अल्प हैं। ऋषि का प्रसन्न वदन तेजपूर्ण हो गया। कहने लगे - प्रेम लोभी और अर्थ भिक्षुकों की श्रेणी तुम जैसों के लिए एक ही है। अरे पागल! तू पैसे के लिए प्राण न्यौछावर करता है और प्रेमी? वह तो प्रेम के सम्मुख धन का भी परित्याग करता है सहर्ष हो। प्रेमी का धन पार्थिव वस्तु नहीं, वह स्वर्गीय भोगों को भी तुच्छ समझता हुआ, प्रिय की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण संसार के वैभव को भी भुला देता है। तू लोभी प्रेम-लोभी को कब पहचानने लगा? तेरा प्यार धन-दौलत से और उसका

प्यार उस अज्ञात से है, जिसे जानने वाले ही जानते हैं। समता यों नहीं होती - उसके लिए त्याग, तीव्र प्रेम, बलिदान और सहृदयता की आवश्यकता होती है। तू ने प्रेम को पहचाना नहीं, अति संग्रह, धन ही तेरा ईश्वर है। लोभ महा अनर्थों का मूल है। रोम-रोम में जिसके लोभ रमा हुआ है, वह प्रेम प्रार्थी कब हुआ? संग्रह अच्छा, किन्तु किस अवस्था में यह भी तो विचारणीय है। वह धन किस काम आया, जिसने प्रति मुहूर्त्त प्राणी के प्राणों में संकुचित भावों को ही स्थान दिया। लोभ ने किसका हित किया? जगत का? मिथ्या। भारवाही प्राणी के लिये सुख कहाँ? जब सुख की प्राप्ति ही सरल नहीं, फिर आनन्द का प्रश्न ही कहाँ रहा, तेरा उपासक क्यों जगत में आता है, उसका मर्म तेरे अतिरिक्त अन्य से अविदित है।

लोभ कुछ मर्माहत-सा हुआ, किन्तु कुछ कहना उसने उचित न समझा। कहने लगा - ऋषि तुम्हारी दृष्टि भी कुछ संकुचित-सी है; मेरा उपासक यदि लाभ न भी उठा पाया, किन्तु उसके अति निकट सम्बन्धी तो अवश्य लाभान्वित होते हैं। ऋषि मुस्करा रहा था उसकी उक्ति पर, युक्ति पर। लोभ ने पुनः कथन प्रारम्भ किया। कहा - ये भव्य भवन, सुन्दर सदन मेरी ही कृपा के बल पर स्थित हैं। तुम मेरी उपादेयता क्या समझो? गृहत्याग, वैराग्य का साधन अपना, बनवासी बन एक जीर्ण-शीर्ण कुटिया में वास करते हो। आवश्यकताएँ अल्प हैं, इसलिए ऐसी बहकी-बहकी बातें करते हो।

ऋषि निरुत्तर न था, शान्त था कहने लगा - लोभ! तेरी वाणी का प्रभाव मुझ जैसों पर क्यों पड़ने लगा? अर्थ संचय बुरा नहीं, लोभ बुरा है। तेरा उपासक तन-मन की उपेक्षा करता, धन को धर्म मानता, जीवन-यापन करता है। उपदेश का तू अधिकारी नहीं। जीवन, जीवन के लिये नहीं, काम के लिए नहीं, न क्रोध के लिए, लोभ का स्थान कहाँ? जीवन आनन्द के

लिये। तू कहेगा क्या अर्थ संचय आनन्द का हेतु नहीं? सत्य कह, तेरा उपासक, संग्रह को प्रधानता देता है और कहता है आनन्द के लिए ही तो यह व्यग्रता है; किन्तु उसका कथन कहाँ तक सत्य है? वह केवल भविष्य से ही भयभीत है। वर्तमान तो उसका आकुल ही बना रहता है। आनन्द कहाँ? वह संसार जो प्रतिक्षण परिवर्तनकारी है, क्षण-भंगुर है, वहाँ वर्तमान सुख को अमान्य कर भविष्य की चिन्ता कहाँ तक युक्तिसंगत है ?

लोभ ने कहा - ऋषि ये बातें तुझी को शोभा देती हैं, जन-कल्याण तो संग्रह में है, धन संग्रह में है। ऋषि शान्त प्रकृति का उपासक, उसे वाक वितण्डा न कभी रुचिकर प्रतीत हुआ और न वह कभी निरर्थक उपदेश का इच्छुक था। लोभ ने समझा ऋषि पराजित हुआ। ऋषि प्रसन्न वदन लोभ के गमन की प्रतीक्षा कर रहा था। लोभ का मुख कुम्हला गया। उसने समझा यहाँ जय-पराजय का प्रश्न न था तत्त्व विवेचन मात्र था। विदा होते समय लोभ अपनी भूल समझ पाया। ऋषि के मुख पर विकार की रेखा भी न थी। नत मस्तक हो लोभ विदा हुआ।

ऋषि पुनः चिन्तन मनन में संलग्न था। विकारों का खेल देख वह न भयभीत होता और न चिन्तित। काम आया, क्रोध आया, लोभ ने अपनी बातें कह सुनाई किन्तु ऋषि के निर्मल अन्तःकरण पर उनका प्रभाव तनिक भी न पड़ा। विवेचन उसका कार्य था। श्रवण, मनन तो हो ही रहा था। प्रेम का पुजारी आत्मानन्द के बल पर इनके खेल देख प्रसन्न हो रहा था। एक दिन मोह के भी दर्शन हुए। मोह कुछ मोहक था, न सुन्दर न कुरूप। हाँ स्वरूप को भुलाने में सचेष्ट सा प्रतीत हुआ। ऋषि सहर्ष सभी का अभिवादन करता। इन विकारों की निन्दा स्तुति उसका काम न था, वह तो जगत के खेल देखता हुआ एक नवीन रूप इनके प्रति रखने के प्रयास में लगा था। अपने विचारों को, बलपूर्वक बुद्धि-बल के द्वारा, जगत को, मनाने के लिए, स्वीकार

करने के लिए न आया था। सबके प्रति अगाध प्रेम, उसके रोम-रोम में प्रवाहित हो रहा था।

प्रेय श्रेय उसका सिद्धान्त न था। विनोद-पूर्ण विश्व क्यों चिन्तित हो, सुख-दुःख के झूले में झूल रहा है? ये विकार उसे क्यों संत्रस्त कर रहे हैं? क्यों व्यक्ति अव्यक्त की शक्ति से अनभिज्ञ हो भाग्य के गीत गा रहा है? शान्ति उसके लिये क्यों अलभ्यवत प्रतीत हो रही है? क्यों प्राणी प्रियतम को विस्मरण कर तम का उपासक बना हुआ है? अपने प्रिय के गीत के स्थान पर क्यों वह पर-चर्चा पर-निन्दा में लगा है, जब सभी अपना रूप है?

क्यों काया-माया उसे भ्रमित कर रही है? क्यों चंचल मन विषयों का शिकार बना हुआ है? क्यों बार-बार यह “क्यों” उपस्थित हो मन तन को आकुल-व्याकुल करता आ रहा है? ऐसे ही अनेक प्रश्नों का उत्तर अपने ही अन्तःकरण में खोज रहा था। मोह का आगमन ऐसी ही स्थिती में हुआ। ऋषि विवेचन करने लगा यह मोह भी कर्त्तव्यच्युत का महा सहायक है। जहाँ इसका आगमन हुआ कि व्यक्ति भूल बैठता है स्वकर्म। फिर तो धर्म कर्म की व्याख्या भी मनुष्य मनमानी करने लगता है। अति मात्रा का मोह तो मनुष्य को विवेक शून्य बना देता है।

ऋषि ने अभिवादन किया - भाई मोह तुमने तो विश्व को ऐसा मोहित कर रखा है कि प्राणी अशान्त हो जाता है। काम क्रोध के कार्य तो परिलक्षित होते हैं, किन्तु तुम्हारे कार्य प्राण और हृदय पर ही मधुर वार करते हैं? तुम्हारा वार, वार-सा प्रतीत नहीं होता। हृदय पर पूर्ण राज्य करते हो तुम, साधारण जन तुम्हें कब जान पाये जबकि वैरागी, त्यागी, ऋषि-मुनि भी तुम्हें जान नहीं पाते, तुम्हारी महिमा अपार है।

मोह ऋषि वचन श्रवण कर कहने लगा - ऋषि उपहास का मैं पात्र नहीं। मैं न होता तो माता शिशु को स्तन पान न कराती, उसके लिए कष्ट न उठाती। मैंने संसार का उपकार ही किया है, अपकार नहीं। ऋषि सहास्य कहने लगा - यही तो विश्व का चमत्कार है सभी अपने को, कार्यो को, जिनसे उनका घनिष्ठ सम्पर्क रहता, उचित समझते हैं। उचित ही नहीं निभ्रान्त भी समझते हैं। क्या तस्कर क्या पंडित सभी अपने को ठीक ही बतलाते तथा उचित स्थान पाने के इच्छुक होते हैं। तस्कर को अपनी कार्यकुशलता, साहस पर अभिमान है और पंडीत को तो अपने विद्या बल का अभिमान ही नहीं, गौरव अनुभव करता है। यदि सभी न्याय संगत, उचित व्यवहार करते हैं फिर विवाद का प्रश्न ही कहाँ रहा ?

विश्व में माया और मोह का खेल ही तो प्राणी को व्याकुल कर रहा है। माया न होती तो न विश्व होता और न प्राणी। किन्तु आज भी विश्व है, प्राणी है, माया है, मोह है। निन्दा या स्तुति का प्रश्न नहीं, प्रश्न है उनकी उपयोगिता का। मोह ने माता के हृदय में स्नेह को उत्साहित किया, स्वीकार किया जा सकता है; किन्तु वही मोह माता के हृदय को इतना दुर्बल बना देता है कि वह सन्तान के शुभ अशुभ का प्रति पल ध्यान करती तथा अनेक अवस्थाओं में कर्त्तव्य से विमुख भी कराती। उस मोह की क्या उपादेयता है जो उचित कर्म में भी उत्साह प्रदान न करे, प्राणों में व्याकुलता उत्पन्न करे, साहस, वीरता के भावों को कार्य रूप में परिणित न करने दे? महान ज्ञानी ध्यानी भी तुम्हारी कृपा से अनेक जन्म धारण करने को बाध्य होते हैं।

शान्त गम्भीर चित्त से मोह ऋषि की उक्तियों को सुन रहा था। कहने लगा - ऋषि ये बातें सार गर्भित हैं यह मैं स्वीकार नहीं करता, कुछ तथ्यांश है। मेरा अस्तित्व सृष्टि चक्र परिचालन के लिए अत्यावश्यक है। प्राणी का प्रादुर्भाव हुआ, अज्ञात सूक्ष्म जगत से वह दृश्य जगत में आया,

लौकिक क्रिया-कलाप से उसका सम्बन्ध स्थापित हुआ, व्यवहार की रुचि हुई, कार्य में संलग्न हुआ, अति प्रिय के लिये मोह का भाव जागृत हुआ। क्या तुम इस क्रम के अभिलाषी नहीं? ऋषि, मेरा कथन तुम्हें मानसिक आघात न पहुँचाये, क्या तुम मेरे उपासक नहीं? तुम भी अपने को जीव मान शिव साधन में ही संलग्न हो रहे हो। स्वयं शिव हो, इसे तुम्हारी बुद्धि स्वीकार नहीं करती, मन मानता नहीं, यह भी तो तुम्हारी उपासना का एक विशेष कारण है। यह भी तो मोह है जो तुम्हें जीवत्व भाव से पृथक, शिव समाधि में लीन नहीं होने देता।

मोह बुरा कह कर निष्कृति न किसी की हुई है और न होगी। मैं जगत को कमनीय बना देता हूँ यही नहीं कारागार और बन्धनों में भी एक प्रकार का अपनापन उत्पन्न करता हूँ। पाप-पुण्य का मोह भी तो मोह है। अज्ञ नहीं, विज्ञ भी मेरी कृपा के अभिलाषी हैं। मोह हुआ अवतारियों को, साधारण जन तो पद-पद पर मुझसे लाभान्वित होते हैं। मैंने संसार को मधुर, आकर्षक, कमनीय कर्तव्यनिष्ठ बनाया।

ऋषि मोह के तर्क पर मुग्ध था। सोचता था विश्व की विशेषता को, जहाँ पंक में भी पंकज उत्पन्न होता है। निरर्थक कुछ भी नहीं। फिर यह विकलता क्यों, चिन्ता क्यों, निराशा क्यों, अकर्मण्यता क्यों? क्यों प्राणी प्रतिक्षण भ्रमित हो संसार की असारता का गीत गा रहा है? विश्व की प्रत्येक वस्तु सार्थक, प्रत्येक भाव, प्रकाश, प्रसार के लिए सचेष्ट फिर यह अभाव क्रन्दन क्यों? मोह ने इन्हें विवश किया या इनकी अज्ञता ने, यह भी विचारणीय है। जो कुछ भी हो, मोह की सार्थकता को ऋषि कैसे स्वीकार करता, कहने लगा - मोह की बातें भी यदि मोह की भावना न जगा पायें तो आश्चर्य ही होगा संसार को किन्तु जिनका लक्ष्य निश्चित है वे भला, तुम्हारी मोहक बातों में क्यों आने लगे। तुम्हारा भाव काम, क्रोध से भिन्न है। एक ओर

तुम प्यार का आश्रय लेते हो, दुसरी ओर कर्त्तव्य विमुखता का। प्रेम तो अच्छा, किन्तु कर्त्तव्य-विमुखता तो मनुष्य के हृदय में ग्लानि उत्पन्न करनेवाली होती है। तुम कुछ अंशों में जगत के सम्पर्क का कारण बनते हो, किन्तु वह सम्पर्क किस काम का, जो कर्त्तव्य को प्रोत्साहन देना तो दूर, विमुखता का पाठ पढ़ाये। मोह! तुम्हें कभी मोह नहीं होता, यह भी आश्चर्य है। तुम अन्य प्राणियों का मोह-जनित कार्य देख अपनी सफलता पर फूले नहीं समाते।

माता का स्तन पान मोहजनित नहीं, स्नेह का जीवित उदाहरण है। स्नेह ने रक्त को दुग्ध में परिवर्तित किया यह तुम्हारे अभिमान का विषय नहीं। स्नेह प्राणी के प्राणों में अमर ज्योति जागृत करता। प्राणी को देव तुल्य ही नहीं अपितु स्वयं प्रकाश के भाव से अवगत कराता। प्रशंसा के पात्र तुम नहीं, स्नेह है जिसका विकृत रूप तुम्हारा सहायक होता है। जहाँ विशुद्ध परम तत्त्व है वहाँ आंशिक विशुद्ध जीवत्व भाव है। विकारों में तुम्हीं ऐसे छद्मवेशी हो जिसका परिचय नहीं। मोह! तुमने अकर्मण्यता एवं शिथिलता को प्रश्रय दिया, उत्साह का स्थान ही न रहने दिया। देखो आज भी तुम्हारे संक्रामक प्रभाव से सृष्टि का कैसा विकृत रूप हो रहा है? सार्थकता तुम्हारी नहीं स्नेह की है जिसे तुमने पंगुवत बना रखा है। स्नेह प्रवाहित होता जन-जन के तन-तन में, मन-मन में तो स्वर्ग की कल्पना ही मनुष्य को न करनी पड़ती। आज कल्पना मात्र है, यदि स्नेह का राज्य होता तो प्रकृति धन्य होती, प्राणी प्रतिपल भाव के झूलन में झूलता, शान्ति उसकी सखी होती और न जाने क्या-क्या होता, यह कहना ही व्यर्थ हो रहा है। मोह! तुम्हारा बन्धन महा भ्रामक है। उत्पन्न

मोह क्षुब्ध हो रहा था उसे ऋषि वाक्य वाचालता द्योतक प्रतीत हुए। कहने लगा ऋषि शान्त हो, ये अनर्गल बातें स्वयं मोह उत्पन्न करेंगी प्राणी के हृदय में। पृथ्वी पर स्वर्ग निर्मित करना यह भी तो मोह है तुम्हारी सुखाकांक्षी

वृत्तियों का। यदि विशुद्ध, विशुद्ध ही रहता तो जीवत्व भाव ही न रहता और यदि जीवत्व भाव न रहता तो शिवत्व का उपासक होता कौन? प्रकृति का खेल नहीं देखते, जहाँ उसने ऋषि को स्थान दिया वहाँ उसने विमोही को प्रथम स्थान दिया। सुर और असुरों में असुर की सृष्टि प्रथम हुई। सृष्टि का क्रम तुम जैसे ऋषियों से न बना रहता, हम जैसे मोह, काम आदि से बना रहता है। स्नेह का जनक मैं (मोह) हूँ तुम जैसे गृह त्यागी वैरागी, मोह की बातों से अनभिज्ञ ही रहे। निन्दा से मेरा बुरा भला होने वाला नहीं। मेरी उपयोगिता है तभी तो मैं हूँ। तुम तो मेरे दृष्टिपात मात्र से व्याकुल होते हो मैं तुम्हें क्या कहूँ?

ऋषि मोह की तर्कशैली पर मुग्ध हो रहा था, कहने लगा - मोह! सार्थकता का मापदण्ड वाचालता नहीं, जीवन की सफलता है। मोहाक्रान्त व्यक्ति स्वयं ही बुद्धिहीन-सा हो बैठता है। वह विश्व का क्या कल्याण कर सकेगा? मोह ने व्यक्ति के व्यक्तित्व को ही अज्ञता का उपासक बना दिया, पुनः स्वचिन्तन तो उसके लिये कहाँ सम्भव? किन्तु एक ओर प्रकृति तुम्हारी सहायिका है वहाँ दूसरी ओर वह व्यक्ति को भी मार्ग की ओर संकेत करती है किसी अज्ञात शक्ति के आदेशानुसार। विचारों की तरंगें व्याकुलता का कारण हैं, तो शान्तिदायिनी भी हैं। सृष्टि क्रम के नियन्ता तुम नहीं यह तो सृष्टि चक्र परिचालक का ही विनोद है कि उसने प्राणी को केवल ममत्व का ही भाव नहीं दिया, समत्व का भाव प्रदत्त किया। भिन्नता जीवन का एक विशेष अंग है। सभी व्यक्ति न एक प्रकार से सोच पाते हैं और न क्रियात्मक रूप ही विचारों को दे पाते। रुचि भिन्नता का खेल तुम्हारा सहायक होता है अन्यथा मोह ग्रसित व्यक्ति कब शान्त हो पाता है? क्या करूँ, क्या न करूँ इसका भी निर्णय तुम्हारी कृपा से नहीं हो पाता। मोह! तुम्हारी मादकता असीम है, तुम्हारा नशा अनेक जन्मों तक बना रहता है। तुमसे निष्कृति तो अति अल्प व्यक्ति ही पाते हैं।

मोह का होम हो जाता है स्नेह में। स्नेह जब सूक्ष्म परम तत्त्व का अभिलाषी होता है तो स्नेह जड़ता का रूप धारण करता है। यह रूप भी एक दिन अरूपी के रूप में समा जाता है। काम, क्रोध, मोह आदि के भाव यों ही निरर्थक हो जाते हैं। मोह की बातें सुनते सुनाते ही तो मोह ने हृदय को वशीभूत कर लिया। अब तुम प्रस्थान करो, अधिक वार्तालाप तुम जैसों से हानिकारक ही होता है।

मोह क्षुब्ध हो गया कहने लगा ऋषि - तुम मेरी सार्थकता कभी न जान पाओगे, सूक्ष्म स्थूल का विवेचन ही यदि व्यक्ति को बन्धन मुक्त कर दे, तब तो सभी कार्य सरल हो जायें; किन्तु ऐसा होता नहीं। विचारों की तरंगें क्षणिक उत्तेजना देती हैं व्यक्ति को, किन्तु स्थायी भाव के प्रदायक हम छः भाई हैं, जिनके क्षय का स्वप्न देखने वाले तुम जैसे अनेक का आवागमन हुआ, किन्तु व्यर्थ ही रहा। क्षय, काम का, मोह का कब हुआ? देव ऋषियों के लिए भी हम चिन्ता का विषय बने रहे, फिर ये प्राणी किस आधार पर हमारा रहस्य समझ सकेंगे?

ऋषि ने उत्तर दिया - आधार है, स्नेह का, प्रेम का। विकारों का आधार तो विकार ही उत्पन्न करता है। जहाँ विकार है वहाँ ये छः भाई अन्य सहायक भावनाओं के लिए स्थान बना देते हैं। एक से ही जब अनेक की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कार्य संचारित होता है, वहाँ छः विकारों का तुमुल युद्ध तो दर्शनीय बन जाता है। मोह जनित भाव तो भव को अनेक अभावों से ग्रसित करता है। तुम्हारी उपादेयता तुम्हारी दृष्टि में महान हो सकती है, किन्तु एक तत्त्व चिन्तक तुम्हारी मन मोहक बातों की ओर कर्णपात भी नहीं करता। वह सब अनुभूति के आधार पर तुम्हारी सार्थकता तथा निरर्थकता का सतर्कता से अवलोकन करता है।

यों तो सभी विकार अल्प या अति मात्रा में प्राणी के प्राणों में विकलता, विवशता, चंचलता को प्रोत्साहन देते हैं, किन्तु तुमने तो सभी को भ्रमित कर रखा है। अन्य विकार जहाँ कामुकता, उग्रता, संकीर्णता आदि दुराभावों को उत्तेजित करते हैं वहाँ तुम तो अकर्मण्यता का ही पाठ पढ़ाते हो। मोह का मैं प्रशंसक नहीं। तुम्हारा प्रस्थान ही अब शुभकर है।

मोह लज्जित हो प्रस्थान के लिए उद्यत हुआ, किन्तु जाने के पूर्व ऋषि की सहानुभूति का वह इच्छुक था, कहने लगा - मैं चला, किन्तु मेरी उपादेयता तुम्हें स्वीकार करनी चाहिये। ऋषि ने उत्तर देते हुए कहा - मैं तुम्हें हृदय में स्थान कैसे दे सकता हूँ? विवेक अभी मेरा सहायक है। जहाँ विवेक है, वहाँ तुम्हारा स्थान कहाँ? तुम्हारे लिये सहानुभूति कहाँ? मोह ने नतमस्तक हो विदा ली।

ऋषि शान्ति का उपभोग करता हुआ योग में संलग्न था। सोचता था कैसा अद्भुत यह विश्व है? कितना विराट, कितना महान? प्रत्येक प्राणी के प्राणों में कितनी आकुलता-व्याकुलता, कितनी स्थिरता-गम्भीरता क्रीड़ा कर रही है। विपरीत विचारधाराओं का प्रवाह यहाँ दृष्टिगोचर होता है। कैसा अपूर्व समन्वय है? एक शान्ति का उपासक है, एक क्रान्ति का, एक द्रव्य-लोलुप है, एक त्यागी-तपस्वी, एक भोगी, रोगी, एक समर्पण अभिलाषी, एक विश्व-विध्वंशक, एक विश्व-प्रेमी, एक तत्त्वचिन्तक, एक चिन्ता-दग्ध। विपरीत भाव-गंगा यहीं देखी। किन्तु धन्य है जगत-नियन्ता, जिसने केवल मोद के लिए जग मोदक बनाया।

ऋषि मानसिक विनोद का आनन्द ले रहा था कि मद उपस्थित हुआ, जिसका चलन, हिलन, डुलन, दर्प प्रदर्शित करता था। ऋषि निश्चल दृष्टि से मद की गतिविधि का अवलोकन करने लगा। मद क्यों ध्यान देने लगा

ऋषि की ओर, वह अपने रंग में मस्त था। ऋषि का दयालु हृदय खिन्न हो उठा। मद को मद होना स्वाभाविक है, किन्तु सरल प्रकृति ऋषि मद की अज्ञानता की उपेक्षा कर, सहास्य कहने लगा-अभिवादन है तुम्हारा। अहंकार के प्रतिरूप, भूमि पर पद रखते हुए भी अपने क्रिया-कलापों का परिचय दे ही देते हो। क्या यह भूमि तुम्हारे चरणों के योग्य नहीं? यदि यही बात है तो भूमि पर आये ही क्यों? शायद स्वर्ग भी तुम्हारे योग्य नहीं। इतना अभिमान क्यों? अहंकार क्यों? दर्प क्यों? मद क्यों?

ऋषि की वचनावली ने मद को सचेतन किया। ध्यान देता वह (मद) ऋषि की बातों पर, यह अभी सम्भव न था। केवल इतना ही अनुभव किया कि कोई कुछ कह रहा है। ऋषि फिर भी शान्त थे। मद का मद यों ही ऋषि के अभिवादन को स्वीकार कर लेता, यह उसके लिए सरल कार्य न था। अभिवादन का प्रत्युत्तर नतमस्तक हो देता मद, यह मद के लिए सम्भव न था।

ऋषि की शान्ति अखण्ड थी। घृणा के लिए उसके हृदय में स्थान न था। पुनः अवलोकन किया मद की ओर। शान्त अन्तःकरण का प्रभाव पड़ा मद पर। मद कुछ नम्र हुआ। विवश था ऋषि के व्यवहार से। मद के ओष्ठ हिले। ऋषि का सरल हृदय पुलकित हुआ। मद कहने लगा - ऋषि तुम्हारी बातों का उत्तर मैं न देता, किन्तु तुम्हारे व्यवहार ने मेरे हृदय में एक अज्ञात भावना की सृष्टि की। अनेक ऋषि-मुनियों से मैंने साक्षात्कार किया। उन्हें अपनी त्याग-तपस्या का सूक्ष्म अहंकार था। अहंकारी, अहंकारी को अच्छी तरह जानता है। मुझे उनके अहंकार ने उत्तेजित किया। मैं समझ पाया ये मेरे भक्त हैं, ज्ञानी-अभिमानी भक्त हैं। अतः उनसे वार्त्तालाप करना मैंने उचित न समझा, किन्तु तुम्हारी सहृदयता ने मेरे अहंकार को भी कुछ शान्त किया। ऋषि, मैं भी सृष्टिकर्त्ता का एक अंग हूँ। सूक्ष्म अहं से मैंने जन्म ग्रहण किया।

मुझे प्रसन्न करने के लिए प्राणी क्या-क्या नहीं करते? अगर किसी अन्य व्यक्ति ने मुझ पर आघात किया तो मेरा भक्त तिलमिला उठता है। अब उग्रता उसका साथ देती है, फिर वार्त्तालाप में मधुरता कहाँ?

ऋषि ने कहा - जिसे ज्ञान न हो, वही तुम्हारा भक्त, अन्यथा विश्व में अहंकार का स्थान कहाँ? समुद्र की एक बूँद यदि उत्ताल तरंग का कारण स्वयं को समझे तो यह भ्रान्ति है। अंश पूर्ण तभी समझा जाता है, जब वह अपने अस्तित्व को, पूर्ण को समर्पण कर दे, अन्यथा अंश, अंश ही है, पूर्णता उसके लिये स्वप्नवत् कल्पना मात्र है। अहंकारी प्रेम शान्ति का आनन्द कहाँ पाता है? गुण-अवगुण की ओर उसका ध्यान नहीं। स्वयं प्रशंसा का पात्र होना चाहता है। चाहता है प्रत्येक प्राणी उसकी कीर्तिगान करें, किन्तु यह तो सम्भव नहीं। अहंकारी, अहंकारी के गीत गाये, यह देखा नहीं जाता। हाँ, जहाँ मात्रा में तारतम्य होता है, वहाँ स्वार्थवश भले ही कुछ चाटुकारी के शब्दों का प्रयोग करे अन्यथा एक पत्थर दूसरे पत्थर से टकरा कर ही रहता है। मद ने सत् को भी असत् बनाया। केवल गुणानुवाद श्रवण का अभिलाषी, अपूर्ण अभिलाषा के साथ ही जगत से प्रस्थान करता है।

मद को ऋषि की बातें रुचिकर प्रतीत न हुईं। कहने लगा - गिड़गिड़ा कर जीवित रहना भी क्या जीवन है? दया का भिखारी बनने के पूर्व इस लोक से विदा लेना अच्छा है। यदि अन्य जन मेरी प्रशंसा न करें, तो मैं कब प्रशंसा करता हूँ उनकी। मद ही मनुष्य को जीवन की प्रेरणा देता है। मद न रहे तो दम घुटने लगता है मनुष्य का। “मैं ही ब्रह्म हूँ” यह भी तो विचारों का मद है। यदि अन्य व्यक्ति ऋषि कहकर तुम्हारा सम्बोधन करे, तो तुम्हें क्या मद नहीं होता? जीवन के अन्तिम श्वास तक मैं जीव के साथ हूँ।

ऋषि गम्भीर मुद्रा में था। मद के अन्तिम वाक्यों ने ऋषि का ध्यान आकृष्ट किया। ऋषि ने कहा - भोले मद, ब्रह्म कहना तो होना नहीं है।

अहंकारी से ब्रह्म का भाव कोसों दूर है। अनुभूति, वह भी इन्द्रियातीत हो तो ब्रह्म स्थिति का कारण बन सकती है। जीव ब्रह्म है, ब्रह्म का ही दूसरा रूप है, इस कथन मात्र से अनुभूति कब हुई? अहंकार का पतन, शरणागति के प्रति आकुलता का भाव “ब्रह्मभाव” के लिये सहायक होता है, किन्तु तुम्हारी प्रेरणा तो महा जंजाल बन जाती है। बीज जब तक सड़ नहीं जाता, अपने रूप को खो नहीं पाता, तब तक वह अंकुर का रूप कहाँ पाता है? तुम्हारे भक्त के लिए यह कार्य अति दुष्कर है। मद के भक्त ने केवल प्रदर्शन में ही अपनी शक्ति का अपव्यय किया। जुगुनू यदि अपने को सूर्य समझ बैठे, तो प्रकाश-स्तम्भ वह हो नहीं पाता। “अभिमान पतन का कारण है।” यह केवल आदर्श वाक्य ही नहीं यथार्थता का द्योतक है। मद अनेक उपद्रवों का कारण बन जाता है। शक्ति, वह भी परिमित, सन्तोष का कारण कब बन सकी? तुमने प्रेरणा दी, किन्तु क्षणिक। विवेक की ओर तुम कब ध्यान देते हो? अल्प प्रशंसा के लिए तुम व्याकुल रहते हो। अभिमानवश तुम ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हो, जो श्रोता के लिए न केवल अपमान बल्कि क्षोभ का कारण बनता है। जहाँ मनुष्य ने तुम्हें अपनाया उन्नति तथा ज्ञान से वह हाथ धो बैठा। तुम क्षणिक आवेश के सहायक हो मैं कैसे तुम्हारी उपादेयता का समर्थक बनूँ।

स्वभाव के प्रतिकूल भी मद ऋषि की उक्तियों को सुनता रहा; किन्तु अब वे असह्य हो उठीं। मद ने कहा - शान्त हो ऋषि। मैं तुम्हारी पाण्डित्य पूर्ण बातें सुनने के लिए नहीं आया। मुझे तुम्हारी बातें पिष्टपेषण-सी प्रतीत होती हैं। वीरों की वीरता का कारण मैं हूँ। जिसमें अभिमान नहीं, स्वाभिमान नहीं, वह व्यक्ति जीवन में किस लक्ष्य की पूर्ति कर सकेगा? कामी, क्रोधी, लोभी, मोही व्यक्ति अपने कार्यों में ही ऐसे व्यस्त रहते हैं कि उन्हें किसी महत् कार्य के लिए अवकाश नहीं; किन्तु मेरा उपासक प्राणों की बाजी लगाकर कुछ ऐसे कार्य करता है कि जीवन इतिहास में उसका विशेष स्थान रहता है। विवेक को मैं उसी अवस्था में उचित समझता हूँ, जहाँ वह

उत्साह भंग का कारण न बने। तुम्हारी बातें तुम जैसों के लिए हितकर हो सकती हैं; किन्तु सृष्टि का कार्य तो मेरे उपासक ही करते आये हैं और करते रहेंगे। प्रशंसा मेरे प्राण हैं। प्राणों में स्फूर्ति आती है प्रिय वचनों से, न कि तुम्हारे शुष्क उपदेशों से। कीट से कुंजर तक, मानव से महामानव तक क्या चाहते हैं, क्या तुमने समझने का प्रयत्न किया? यदि किया होता तो तुम मेरे निन्दक न बनते। सभी अपने को महान समझते हैं। यह महानता उनका जन्म सिद्ध अधिकार है। तुम उसे अवगुण समझ बैठे हो यही तुम्हारी भूल है।

ऋषि श्रोता था, मद वक्ता। किन्तु यह अवस्था अधिक समय तक न रह सकी। ऋषि ने उत्तर दिया - तुम्हारी बातें विवेचना पूर्ण हैं; किन्तु ज्यों ही व्यक्ति तुम्हारा शिकार बना कि वह विराट शक्ति को भूल शरीर, बुद्धि को ही सर्वस्व समझ, अनुचित व्यवहार कर बैठता है। स्वपरिचय के पश्चात् अहंकार कहाँ? रहता भी है तो मृतवत्। अभिमानी व्यक्ति की उपस्थिति ही वातावरण को अशांत बना देती है। तुमने निराभिमानी व्यक्ति देखे ही कहाँ? उनका प्रेम, निर्मल अन्तःकरण, तुम जैसों के लिए ईर्ष्या का कारण बन जाता है। मैंने तुम्हें उपदेश की बातें न कही, वस्तु स्थिति पर कुछ प्रकाश डाला है। सूर्य के प्रकाश ने चन्द्रमा को हतप्रभ न किया, बल्कि चन्द्र की चाँदनी लीन हो गई सूर्य की किरणों में। महाशक्ति की अनुभूति मद को अपने में लीन कर लेती है। व्यक्ति महान है, महाशक्ति में आत्म-समर्पण कर। धन किसी का और अभिमान करे कोई, यह कैसे सम्भव हो सकता है? मद तुमने निरर्थक ही बातें बनाई। है, विश्वास उसका जो विश्व की आशा पूर्ण करता है? तुम किसी को महान स्वीकार कब करने लगे? जिसे उपदेश भी मानसिक आघात पहुँचाता है, उससे वार्त्तालाप कैसा? आधार को न पहचान स्वयं को सर्वज्ञ समझ बैठना कब शांतिवर्द्धक हुआ? तुम्हारी स्थिति यथार्थ में दयनीय है। धनहीन व्यक्ति अपने को धनाढ्य समझ बैठे, तो उसे पग-पग पर लाँछित होना पड़ता है।

मद ऋषि की बातों पर क्यों ध्यान देने लगा ? कहने लगा - ऋषि न हो, कुछ इधर-उधर की न कहो तो तुम्हें शांति नहीं। मेरी सुनो, लोग मुझे अल्पज्ञ समझें या बहुज्ञ, तुम चिन्तित क्यों ? मुझ पर विजय पाना सरल कार्य नहीं। मुझे वही झुका सकेगा जो प्रथम स्वयं झुके। टूटना आसान, झुकना कठिन।

ऋषि ने कहा - तुम प्रशंसा के योग्य हो। अपने अवगुण को भी तुम अपनी विशेषता बतलाते हो। मैं तुम्हारे स्वभाव से परिचित हूँ। प्रेमी भक्त का जिस दिन तुम्हें दर्शन होगा, उसी दिन समझ पाओगे कि “टूटना आसान, झुकना कठिन।” प्रेम का प्रबल प्रवाह ही मद का दर्प मधुर भाव से चूर्ण करता है। यह अभिमान अभिमानी ही सह्य करेगा। प्रेमी के हृदय की शुद्धता ने अनेक अभिमानियों का दर्प दलन किया है। अभिमानी मद! अहंकार की मदिरा में ही तुम डूबते रहे। संसार का सौन्दर्य तुम्हारे लिये तुच्छ ही रहा। त्रुटियों पर ही ध्यान रहा। सहिष्णुता तुम्हारे लिए विशेष अर्थ रखने वाला गुण न रही। मादकता जिसका जीवन है, वह सरलता का उपासक कब बना ? काया यंत्रणा भोगती रही, मन व्याकुल रहा तुम्हारी कृपा ही ऐसी है। हृदय का मूल्य क्या समझे, जो अभिमानी है। संयोगवश यदि किसी पर कृपा भी की तो मानो बहुत कुछ कर डाला। तुम्हारा प्रस्थान मंगलमय हो।

मद अब समझ पाया कि उसने व्यर्थ ही ऋषि को अपमानित करने की चेष्टा की। शब्द उसे उत्तेजित न कर पाये। मद का मद अब क्या करता ? क्षमा याचना ही एकमात्र अंतिम कार्य था जो मद को शांति प्रदान करता। अभिमानी भी यदा-कदा अपनी दुर्बलता को समझ पाता है। मद ने कहा - क्षमा करो ऋषिवर, मैं अपने स्वभाव से विवश हूँ। ऋषि मुस्कुरा रहा था, मद पर नहीं, अज्ञात शक्ति के अद्भुत प्रभाव पर अन्यथा क्षमा याचना करे मद यह असम्भव था। ऋषि ने कहा - भाई क्षमा कैसी ? धन्यवाद दो उस

महिमामयी अज्ञात शक्ति को, जिसके लिये कोई भी कार्य असंभव नहीं। तुमने जो कुछ कहा स्वभाववश कहा, अतः घृणा या उत्तेजना दोनों का प्रयोग अनुचित होता। मद लज्जित था अपने व्यवहार से। पुनः अभिवादन करता हुआ गन्तव्य पथ की ओर अग्रसर हुआ।

ऋषि पुनः स्वचिन्तन में लगा। मद का मद भी देखा तथा परिवर्तन भी देखा। अज्ञात शक्ति का प्रभाव भी देखा, और कृतज्ञता का भाव भी देखा। श्रवण जब दर्शन का रूप धारण करता तो अनेक कल्पनाएँ यथार्थता को जान पाती हैं। श्रवण उत्सुकता को जागृत करता है और दर्शन ज्ञान को। यों तो ये कार्य स्वतः ही होते रहते हैं। इनकी जानकारी के पूर्व ही भावों का आवागमन हो जाता है। प्रत्येक क्रिया स्वयं परिचालित होती रहती हैं यह देखा जाता, किन्तु रहस्य पर आवरण ही पड़ा रहता है, जब तक कि उसे (रहस्य को) अनावरण करने वाला व्यक्ति का आगमन न हो, कृपा न हो। सम्पूर्ण आवश्यकीय वस्तुएँ स्थित हैं मानस पटल पर किन्तु ज्ञान के अभाव में उनका उपयोग और उपभोग उचित रीति से नहीं हो पाता।

इसी प्रकार अनेक विचार ऋषि के सम्मुख उपस्थित थे। ऋषि ने देखा ईर्ष्या देवी चली आ रही हैं। अब तक देव दर्शन हुए अब देवी स्वयं उपस्थित हुईं। ऋषि पूर्ववत् अभिवादन करने लगा ईर्ष्या का। ऋषि की शान्ति अलौकिक, ईर्ष्या सहन कर न पाई। कहने लगी - ऋषि तुम भी अनोखे व्यक्ति हो संसार में कुहराम मचा है और तुम शान्त निश्चिन्त बैठे हो। मुझसे तुम्हारी यह शान्ति देखी नहीं जाती। ऋषि कहने लगा - धन नहीं देखा जाता, तन नहीं देखा जाता तो तुम अपनी आँखों को विश्राम क्यों नहीं देती? देखोगी किसी को प्रसन्न कि जल उठोगी। सहनशक्ति तो एक गुण विशेष है, उसका सर्वथा अभाव है तुम में। किसी को उन्नति करते देखा नहीं कि जल उठी। दरिद्रों की दरिद्रता पर जलन नहीं होती, क्यों? वहाँ भी अपनी शक्ति का प्रयोग क्यों नहीं करती?

ईर्ष्या कहने लगी - मुझे तो अच्छी वस्तुओं से डह है। गन्दी की बन्दी उपासिका नहीं। सुख, शांति, धन, वैभव किसी अन्य के अधिकार में हों यह कैसे सहन किया जा सकता है? दुःखी दरिद्री तो स्वयं ही कष्ट पाता है, उससे जलन कैसी? मेरी उपस्थिति में उत्कर्ष हो यह असहनीय है मेरे लिए। ऋषि ने मृदु हास्य से कहा - क्यों जलती हो देवी जी, यह तो उचित कार्य नहीं। परिश्रमी व्यक्ति यदि सफल होता है, तो यह प्रसन्नता का विषय है, जलन का नहीं। तुम से प्रेमी का प्रेम, भक्त का सरल हृदय, वीर का वीरत्व, पण्डित का पाण्डित्य, धनाढ्य का वैभव, गुणी का गुण, रूपवान का रूप नहीं देखा जाता, तुम धन्य हो। यह समझने की कभी चेष्टा भी नहीं करती कि गुण और वस्तु यों ही प्राप्त नहीं हो जाती। उनकी प्राप्ति के लिए सतत् सचेष्ट रहना पड़ता है, यही नहीं सफलता के दर्शन तो युगों के पश्चात् कभी-कभी अनेक जन्मों के पश्चात् होते हैं। जलना तो अति सरल है, किन्तु उनकी प्राप्ति के लिए परिश्रम करना, तुम जैसों के लिये, अति कठिन है। जहाँ जलन से क्षणिक सन्तोष होता है वहाँ परिश्रम कौन करे? प्राप्त खाद्य पदार्थ का उपभोग काक शान्तिपूर्वक नहीं करने देता, वैसी अवस्था तुम्हारी है। जलन से किसी का मंगल नहीं। न ईर्ष्यालु शांत हो पाता है और न अन्य जन को ही शांति लेने देता है। अग्नि जलती है काष्ठ आदि के उपक्रम से, किन्तु ईर्ष्या तुम्हारे लिये तो यह क्रम निर्धारित नहीं। सुखी को देख कर तो दुःखी होती हो, तुम धन्य हो। परिचय नहीं, रुक्ष व्यवहार नहीं, फिर भी जलन रखती हो अन्य व्यक्तियों के प्रति यह कहाँ तक न्यायोचित व्यवहार है।

कुछ क्षणों के लिए ईर्ष्या लज्जित हुई किन्तु पुनः ऋषि की बातों का उत्तर देने के लिए उद्यत हुई। ऋषि उत्तर की आशा कर रहा था। ईर्ष्या का कथन प्रारम्भ हुआ - ऋषि तुमने मेरे एक रूप की ही चर्चा की है किन्तु रात्रि का अन्धकार कष्टकर है तो प्रभात का प्रकाश सुखकर भी है। मेरी जलन को ही तुमने प्रधानता दी, मैंने इस जलन से भी उत्कर्ष की भावना को छिपा रखा

है। यदि अन्य को देख कर ईर्ष्या न होती तो अकर्मण्यों की संख्या अत्यधिक होती। आज ईर्ष्या है तो कल अग्रसर होने की तीव्र इच्छा भी है। एक पद पाकर यदि मनुष्य सन्तुष्ट हो, चैन की बाँसुरी बजाने लगे तो भविष्य की कथा भविष्य ही जाने। मैं व्यक्ति को शान्त होकर बैठने नहीं देती। उसके दिल में जलन की अग्नि प्रज्वलित करती रहती हूँ। व्यर्थ की जलन उसी प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार लक्ष्यहीन भ्रमण। ज्ञान वर्द्धन के लिए भ्रमण आवश्यक है यदि तुम इसे स्वीकार करते हो तो तुम मेरी आवश्यकता को क्यों नहीं स्वीकार करते। ईर्ष्या ने यदि जलन उत्पन्न की है तो कार्य की प्रेरणा भी दी है। जलन यदि जलाती ही रही तो एक दिन उसी जलन में स्वयं भी जल मरेगी। किन्तु बात यह नहीं, बात कुछ और है। जलती हूँ उसके लिए जो भव्य है, सौम्य है, सुन्दर है, न कि उसके लिए जो उपेक्षित है नगण्य है। मनुष्य कुछ होना चाहता है, परिस्थितिवश कुछ न हो पाया तो अभाव में दिल की ऐसी अवस्था हुई कि जलन उत्पन्न हुई। नीति के अनुसार यही न कहोगे तुम कि “देख विरानी चोपड़ी क्यों ललचावे जी” किन्तु मैं तुमसे स्पष्ट कहूँगी कि यह मुझे पसन्द नहीं कि दिल में बेचैनी रहे और मैं कहूँ कि अपनी अवस्था से सन्तुष्ट हूँ। नहीं मुझसे ऐसा कभी न होगा। मेरी जलन उन्नति के लिए है, न कि अवनति के लिए।

ऋषि ने कहा - तुम्हारी बातें ही प्रकट कर रही हैं कि तुम्हारा हृदय मलिन है। पर समझती हो प्राणी को इसीलिए न जलन है? हृदय यदि उदार होता, विशाल होता, सहानुभूति के लिये स्थान होता, निरर्थक अभिमान न होता तो ईर्ष्या तुम्हारे भी प्रशंसक होते किन्तु ऐसा होता कहाँ है। तुम्हें जलन से क्षण भर के लिए अवकाश नहीं। तुम्हारी जलन मनुष्य को बेचैन कर देती है। जिसके प्रति ईर्ष्या का भाव होता है उसे तुम किसी भी प्रकार देखने को तैयार नहीं। जिस व्यक्ति के हृदय में प्रवेश करती हो वही अभागा जलता रहता है विचारों की भट्टी में। अन्य व्यक्ति को निरर्थक ही अपना शत्रु बना

लेती हो। अमंगल उस व्यक्ति का होता है जिसने तुम्हें हृदय में स्थान दिया। जाओ - मैंने सभी विकारों से वार्त्तालाप किया किन्तु उन सबों में तुम्हीं अधिक घातक हो। काम ने सृष्टि का अमंगल किया तो सृजन में सहायक भी रहा। क्रोध ने मन तन उत्तेजित कर विवेकशून्य कार्य करवाये तो उसने अविवेकियों का संहार भी किया। लोभ ने दमड़ी का अधिक मूल्य समझा तो धनराशि संग्रह में भी सहायक रहा। मोह ने मानव को कर्त्तव्यच्युत किया तो उसके हृदय में कुछ प्रेम का भाव भी दिया। मद ने जहाँ अभिमान की पराकाष्ठा दिखाई वहाँ स्वाभिमान को भी जगाया किन्तु ईर्ष्या देवी तुम्हारे हिस्से में तो जलना जलाना ही पड़ा। मैं किस की निन्दा करूँ किसकी प्रशंसा जब कि ये विकार एक ओर मनुष्य को कष्ट देते हैं और दूसरी ओर जीवन निर्वाह के लिए इनकी आवश्यकता भी होती है।

गुण अवगुण मिश्रित यह विश्व अनेक विपरीत विचारधाराओं का यह क्रीड़ा स्थल बना हुआ है। इसके प्रत्येक कार्य एक ओर सार्थक तथा दूसरी ओर निरर्थक प्रतीत होते हैं। ईर्ष्या देवी प्रस्थान करो! तुम्हारी उपस्थिति में मेरी चिर संगिनी शांति देवी आने में लजाती है। एकान्त मेरा प्रिय साथी। चिन्तन मानसिक विनोद। मानसिक भाव विश्लेषण मेरा कार्य। “पर” “स्व” का एकीकरण मेरे जीवन का लक्ष्य। सत्य मेरा इष्ट। अधिक कथन भी अनन्त वार्त्ता का अन्त न कर सकेगा। जाओ देवी जी मुझे विश्राम करने दो।

★ इति शुभम् ★